अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यागायत्री**[क], **प्राजापत्याबृहती**[र]। स्वरः—**षड्जः**[क], **मध्यमः**[र]॥

सुतावान् का लोक

[क]**अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः। अस्य लोकः सुतावतः।**
[र]**द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै॥१॥**

१. **इतः**=यहाँ से **पणयः**=केवल व्यवहार व व्यापार का ध्यान करनेवाले वणिक् वृत्ति के लोग, जिनका धन ही सब-कुछ है, वे **अपयन्तु**=दूर हों। ये लोग **असुम्ना**=(सुम्न=Hymn) प्रभु के स्तवन से रहित होते हैं, (सुम्न=Sacrifice) इनके जीवन में त्याग की वृत्ति नहीं होती। परिणामतः ये **देवपीयवः**=दिव्य गुणों की हिंसा करनेवाले होते हैं। देवत्व का मूल 'देवो दानात्' दान है, दान से पृथक् होकर ये देवत्व की समाप्ति कर डालते हैं। परिणामतः सब आनन्द व सुरक्षा (सुम्न=Joy, protection) की समाप्ति हो जाती है। यह लोक अयज्ञिय पुरुष के लिए नहीं है यह **लोकः**=लोक तो **अस्य सुतावतः**=इस यज्ञशील पुरुष का है, (सुतः=यज्ञ) उस पुरुष का है जो वणिक् वृत्ति का नहीं बनता, जो **'असुम्ना'**=प्रभु-स्तवन से दूर नहीं हो जाता, त्याग की वृत्ति को नष्ट नहीं कर देता, **देवपीयु**=दिव्यगुणों की समाप्ति कर देनेवाला नहीं हो जाता। जब लोग 'परिग्रह को छोड़कर प्रभुप्रवण, त्यागशील बनकर देवत्व की वृद्धि करते हुए यज्ञमय जीवन बनाएँगे तभी यह लोक उनके लिए समृद्ध हो पाएगा। २. **अस्मै**=इस यज्ञशील पुरुष के लिए **यमः**=वे सर्वनियन्ता प्रभु **अवसानम्**=(Residence=जगह, अवकाश) घर को **ददातु**=दें। जो घर **द्युभिः**=प्रकाशमय **अहोभिः**=दिनों तथा **अक्तुभिः**=रात्रियों से **व्यक्तम्**=विशेषरूप से कान्तिमय हो। जिस घर में दिन शास्त्रों के स्वध्याय से प्रारम्भ होने के कारण प्रकाशमय हो तथा रात्रि भी इतिहास व महापुरुषों के जीवन-चरित्रों के श्रवण से ज्योतिर्मय हो, अर्थात् प्रातः शास्त्रीय अध्ययन और सायं इतिहास-श्रवण इस घर की शोभा को बढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—जो व्यक्ति (क) पणिवृत्ति से दूर रहते हैं, (ख) प्रभु-स्तवन को अपनाते हैं, (ग) देवत्व की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील होते हैं, (घ) जो दिन व रात्रि को स्वाध्याय से ज्योतिर्मय बनाये रखते हैं, ये लोग उत्तमताओं का निरन्तर आदान करते हुए 'आदित्य' कहलाते है और देवत्व की वृद्धि करने से 'देव' होते हैं। ये 'आदित्या देवाः' ही इन मन्त्रों के (१ से ६ तक) ऋषि हैं। 'इनके घर कैसे हों।' इस विषय को अगले मन्त्र में देखिए—

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्य-किरणें

सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छतु। तस्मै युज्यन्तामुस्रियाः॥२॥

'घर में सब लोग स्वस्थ हों, घर का विकास (प्रसव व उत्पत्ति) हो तथा ऐश्वर्य की कमी न हो' इसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि घर में सूर्यकिरणों का सम्पर्क

अविच्छिन्न हो। सूर्य का नाम सविता है, यह 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' सब प्रसव (Growth) व ऐश्वर्य का करनेवाला है। मन्त्र में कहते हैं कि **सविता**=यह सूर्य **ते**=तेरे **शरीरेभ्यः**=शरीरों के लिए **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **लोकम्**=आलोक=प्रकाश को **इच्छतु**=चाहे। **तस्मै**=उस तेरे लिए **उस्रियाः**=सूर्यकिरणें **युज्यन्ताम्**=युक्त हों, सदा उपयोग की वस्तु बनें (युज्=use) जिस घर में सूर्यकिरणों का प्रवेश ठीक प्रकार से होता है उस घर में रोग नहीं घुस पाते, इसलिए हमारे घर ऐसे ही बनने चाहिए जिनमें सूर्यकिरणें सदा आ सकें।

भावार्थ—'घरों में रोगों का प्रवेश न हो', इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उनमें सूर्य की किरणों का प्रवेश अव्याहतरूप से हो।

ऋषिः—**आदित्या देवा वा**। देवता—**सविता**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

वायु, सूर्य, अग्नि व गौवें

वायुः पुनातु सविता पुनात्वग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा। वि मुच्यन्तामुस्रियाः॥३॥

१. स्वस्थ गृहों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **वायुः पुनातु**=वायु पवित्र करे **सविता पुनातु**=सूर्य पवित्र करे। 'वायु घरों को पवित्र करे' का अभिप्राय स्पष्ट है कि घरों में शुद्ध वायु का प्रवेश होता रहे। इसी दृष्टिकोण से वैज्ञानिक लोग गृहनिर्माणकला में वायु के आर-पार 'Cross ventilation' आ-जा सकने को महत्त्व देते हैं। **अग्नेः भ्राजसा**=अग्नि की दीप्ति से वायु हमारे घरों को पवित्र करे। घर में जब अग्निहोत्र आदि में अग्नि प्रज्वलित की जाती है तब वहाँ की वायु उष्ण होकर फैलती है और ऊपर उठती है, उसका स्थान लेने के लिए बाहर से वायु आती है और इस प्रकार वायु का प्रवाह चल पड़ता है। इस वायु में अम्लजन की मात्रा अधिक होने से यह घर स्वास्थ्यप्रद बना रहता है। अग्नि की दीप्ति रोगकृमियों के संहार में उपयोगी होती है। विशेषतया तब जब हव्य पदार्थों में उत्तमोत्तम औषध द्रव्यों का समावेश हो। उस समय तो **'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'**=अग्नि में डाले गये इन हव्य पदार्थों से ज्ञात-अज्ञात सभी रोग दूर हो जाते हैं। २. **सूर्यस्य वर्चसा**= प्राणशक्ति के साथ **उस्रियाः**=सूर्यकिरणें **विमुच्यन्ताम्**=विशेषरूप से इन घरों में पड़ें (pour forth=विमुच्)। सूर्यकिरणों के द्वारा प्राणशक्ति का सञ्चार होता है। वनस्पतियों में भी जीवनीशक्ति के तत्त्व सूर्य-किरणों से ही रक्खे जाते हैं। सम्पूर्ण प्राणशक्ति का स्रोत ये सूर्य-किरणें ही हैं। ३. **उस्रिया**=शब्द का अर्थ 'गौ' भी है। सूर्य की प्राणशक्ति के उद्देश्य से (सूर्यस्य वर्चसा) ये **उस्रियाः**=गौवें **विमुच्यन्ताम्**=बाहर खुले में घूमने के लिए छोड़ी जाएँ। वस्तुतः उन गौवों के दूध में ही प्राणदायी तत्त्व अधिक होता है, जो गौवें खुले में सूर्य-किरणों के सम्पर्क में दिनभर रहती हैं। इन गौवों का दूध घर के लोगों को स्वास्थ्य देनेवाला होगा।

भावार्थ—हमारे घरों में वायु का प्रवाह ठीक बहे, सूर्य-किरणें हमारे घर के वातावरण को प्राणतत्त्व से परिपूर्ण करनेवाली हों, हमारे घर की गौवें प्रतिदिन सूर्य-किरणों के सम्पर्क के हेतु खूँटे से खोलकर बाहर भ्रमण के लिए भेजी जाएँ।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**वायुसवितारौ**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥४॥

दूसरे व तीसरे मन्त्र में वर्णित स्वास्थ्यप्रद घरों में निवास करते हुए हम संसार की वास्तविकता को कभी भूल न जाएँ। यह नश्वर है, परन्तु जब हम नश्वरता को भूल जाते हैं तब प्रायः हमारा जीवन विषयासक्त होकर पतन की ओर चला जाता है, अतः प्रभु कहते हैं कि १. **वः**=तुम्हारा **निषदनम्**=बैठना, रहना **अश्वत्थे**=(न श्वः तिष्ठति) कल ही न रहनेवाले, अर्थात् नश्वर संसार में है। इस संसार में तुम्हें सदा नहीं रहना। इस नश्वरता को तुम न भूलोगे तो इस शरीर में भी तुम्हें बहुत आसक्ति न होगी। इसकी रक्षा के लिए तुम औरों का घात-पात न करोगे। २. मैंने **वः**=तुम्हारा **वसतिः**=निवास **पर्णे कृता**=इन पत्तों पर किया है। तुम्हें इन वनस्पतियों का ही प्रयोग करना है, मांस का नहीं। ३. तुम जिह्वा के स्वादों में न पड़कर **किल**=निश्चय से **गोभाजः इत्**=वेदवाणियों के सेवन करनेवाले ही **असथ**=होओ। तुम्हारा जीवन भोगप्रधान न बनकर ज्ञानप्रधान बने। ४. **यत्**=जिससे तुम **पूरुषम्**=उस संसार-नगरी में शयन करनेवाले पुरुष-प्रभु को **सनवथ**=प्राप्त करो। 'प्रभु को प्राप्त करना' ही मानव जीवन का वास्तविक लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए आवश्यक है कि हमारी बुद्धि शुद्ध व सात्त्विक बने। बुद्धि की सात्त्विकता के लिए भोजन का सात्त्विक होना आवश्यक है, अतः मांसरूप राजस् व तामस् भोजन को तो छोड़ना ही होगा। हम इस भोजन के स्वाद से ऊपर उठने के लिए संसार की नश्वरता व शरीर के अस्थायित्व को भूल न जाएँ। ये न भूलनेवाले ही ठीक मार्ग पर चलते हुए, अच्छाइयों का ग्रहण करनेवाले 'आदित्य व देव' बन पाते हैं।

भावार्थ—संसार नश्वर है, मांस खाना हमें जीवन व स्वाद में आसक्त करता है, अतः इसे छोड़कर वेदवाणियों का सेवन करें और प्रभु को प्राप्त करें।

सूचना—गीता के 'छन्दांसि यस्य पर्णानि' इन शब्दों के अनुसार संसारवृक्ष के पर्ण=पत्ते छन्द=वेदमन्त्र है। उन्हीं में प्रभु ने हमारा निवास निश्चय किया है, अर्थात् हमें जीवन का खाली समय उन्हीं के अध्ययन के लिए अर्पित करना चाहिए और उनके अनुसार ही जीवन बिताना चाहिए।

ऋषिः—**आदित्या देवा वा**। देवता—**वायुसवितारौ**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

माता की गोद में

सवि॒ता ते॒ शरी॑राणि मा॒तुरु॒पस्थ॒ऽआ व॑पतु। तस्मै॑ पृथिवि॒ शं भ॑व॥५॥

जब हम पिछले मन्त्र के अनुसार जीवन बिताने का प्रयत्न करते हैं तब हमारा जीवन बड़ा सुन्दर व शान्त बनता है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **सविता**=सूर्य **ते**=तेरे **शरीराणि**='स्थूल, सूक्ष्म व कारण' सभी शरीरों को **मातुः**=इस पृथिवी माता की (भूमिमाता पृत्रोऽहं पृथिव्याः'=भूमि माता है और मैं इस पृथिवी का पुत्र हूँ—अथर्व०) **उपस्थे**=गोद में **आवपतु**=ठीक ढंग से स्थापित करे (Fit in, instill=वप्) और हे **पृथिवि**=मातृस्थानापन्न भूमे! **तस्मै**=उस सूर्य द्वारा तुझमें स्थापति पुरुष के लिए तू **शम् भव**=शान्ति देनेवाली हो। सूर्य के द्वारा रोगकृमियों का संहार होकर स्थूलशरीर नीरोग बनता है। स्वास्थ्य के ठीक होने पर मन की प्रसन्नता उत्पन्न होती है, मन की प्रसन्नता से मस्तिष्क ठीक काम करता है। इस प्रकार यह सूर्य सूक्ष्मशरीर का स्वास्थ्य देता है। आनन्दमयता की उत्पत्ति से कारणशरीर तो ठीक हो ही जाता है, स्थूल व सूक्ष्मशरीर भी अधिक स्वस्थ हो जाते हैं और उस समय हमें सच्ची शान्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—सूर्य-किरणों के सम्पर्क से हमारे सब शरीर प्रफुल्लित हों और हमें शान्ति

प्राप्त हो।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

रहने योग्य लोक

प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके निदधाम्यसौ। अप नः शोशुचदघम्॥६॥

पिछले मन्त्र में 'शान्त जीवन' का संकेत किया है। जीवन में अशान्ति के तीन बड़े-बड़े कारण हैं १. राष्ट्र में अराजकता हो, मात्स्य-न्याय चल रहा हो, 'शक्ति ही अधिकार है' Might is right इस सिद्धान्त को लेकर बलवान् निर्बल को ग्रस रहे हों। २. जहाँ हम रहते हैं उसके आस-पास आसुरवृत्ति के लोगों का निवास हो, परस्पर झगड़नेवाले लोग वहाँ रहते हों, उनका शोर सारे वातावरण को क्षुब्ध किये रक्खे। ३. तीसरी बात यह कि आस-पास पानी सुलभ न हो। अन्न तो कई दिनों के लिए संग्रह करके भी रक्खा जा सकता है, परन्तु पानी के लिए ऐसी बात नहीं है और पानी की आवश्यकता पग-पग पर बनी रहती है, यह जन्म से लय तक उपयुक्त होने से ही 'जल' कहलाया है। अशान्ति के इन तीन कारणों को दूर करना आवश्यक है, अतः मन्त्र में प्रभु कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **लोके**=उस लोक में **निदधामि**=रखता हूँ जो ४. (क) **प्रजापतौ**=प्रजापतिवाला है, अर्थात् जिसमें प्रजा का रक्षक राजा विद्यमान है। राजा है और वह प्रजा का रक्षक है, अतः इस लोक में किसी प्रकार की अराजकता का भय नहीं। (ख) **देवतायाम्**=जो देवताओंवाला है। जिस लोक में देववृत्ति के लोग रहते हैं। ये किसी के साथ शुष्क वैर-विवाद नहीं करते, परस्पर मिलकर चलते हैं, अतः इनका प्रेम सारे वातावरण को बड़ा स्निग्ध बना देता है। (ग) **उपोदके**=जो समीप पानीवाला है। यह नदी के किनारे स्थित है, अतः पानी के अकाल का यहाँ भय नहीं है। वर्षा भी यहाँ न होती हो वह बात भी नहीं। कुओं का पानी भी बहुत गहरा न होकर समीप ही है (उप+उदक), एवं, प्रभु ने रहने योग्य लोक का तीन शब्दों में उल्लेख किया है ऐसे ही लोक की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हुए मन्त्र के ऋषि 'आदित्यदेव' प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **असौ**=(लोकः) वह लोक **नः**=हमारे **अघम्**=पापों व शोकों (Sins and griefs), को, दौर्भाग्यों (Mishap) को, अपवित्रताओं (Impurity), वासनाओं व पीड़ाओं (pains) को **अप**=दूर ले-जाकर **शोशुचत्**=(शुच=to burn, consume) अच्छी प्रकार जला दे, भस्म कर दे और इस प्रकार हमारे जीवनों को धार्मिक, प्रसादपूर्ण, सौभाग्यशाली, पवित्र, वासनाओं से ऊपर उठा हुआ और कल्याणमय बना दे।

भावार्थ—'आदित्यदेव' प्रजापतिवाले, देवताओं के पड़ौसवाले, समीप जलवाले लोक में निवास करते हैं और इस लोक में रहते हुए पापों व पीड़ा से परे हो जाते हैं।

ऋषिः—**सङ्कुसुकः**। देवता—**यमः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मृत्यु का (पर पन्थाः) उत्कृष्ट मार्ग

परं मृत्योऽअनु परेहि पन्थां यस्तेऽअन्यऽइतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳरीरिषो मोत वीरान्॥७॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **मृत्यो**=यम—अपने जीवन को नियन्त्रित करनेवाले जीव! अथवा पुराने ढर्रे को छोड़कर जीवन को नवमार्ग पर ले-चलनेवाले (to turn a new leaf) जीव! बुराइयों को समाप्त करके अच्छाइयों को ग्रहण करनेवाले मृत्यो! तू **परम् पन्थाम्**

अनु=उत्कृष्ट मार्ग को लक्ष्य करके **परा इहि**=इन विषय-वासनाओं से परे होकर चल। 'कौन-से उत्कृष्ट मार्ग का लक्ष्य करके?' **यः**=जो **ते**=तेरा **इतरः देवयानात्**=देवयान से भिन्न मार्ग से **अन्यः**=भिन्न है। 'देवयान से भिन्न मार्ग से भिन्न है', अर्थात् जो तेरा देवयान मार्ग है। 'द्वौ नञे प्रकृतार्थं गमयतः'=दो 'न' मिलकर मूल अर्थ को ही बतलाते हैं। जीवात्मा को चाहिए कि वह अपने देवयानमार्ग का ध्यान करके सांसारिक विषय-वासनाओं में फँसने से बचे। जीव का वास्तविक मार्ग तो देवयान है, जब भटकता है तब अन्य मार्गों पर चला जाता है। २. प्रभु का दूसरा आदेश यह है कि हे मृत्यो! संयमी जीव! **चक्षुष्मते**=आँखोंवाले **शृण्वते**=कानों से सुननेवाले **ते**=तेरे लिए **ब्रवीमि**=मैं यह कहता हूँ कि **नः प्रजाम्**=हमारी सन्तान को **मा रीरिषः**=मत हिंसित कर **उत**=और **वीरान्**=हमारी वीर सन्तान को **मा**=मत **रीरिषः**=हिंसित करना। जब मनुष्य देवयानमार्ग को छोड़कर भोगमार्ग की ओर चलता है तब असंयम व अब्रह्मचर्य के कारण उसकी सन्तानें दीर्घजीवी नहीं होती, जीती भी हैं तो दुर्बल रहती हैं। भोगमार्ग पर चलनेवाला अपनी ही शक्तियों को क्षीण नहीं करता, वह आनेवाली सन्तान की भी हानि करनेवाला होता है और एक विचारशील पुरुष कभी भी उस मार्ग का आक्रमण न करेगा जो न उसके अपने हित में है और न ही आगे आनेवाली पीढ़ियों के। ३. मनुष्य को यह भी भ्रम न होना चाहिए कि सन्तान उसी के तो हैं। प्रभु स्पष्ट कह रहे हैं कि ये सब आनेवाले व्यक्ति प्रभु के पुत्र हैं, मनुष्य तो उन्हें जन्म देने का माध्यम मात्र है। मनुष्य क्षणिक भोगवृत्ति के कारण अपना ही नहीं आनेवाली सन्तान की भी कितनी हानि करता है। प्रभु कहते हैं कि तू तो 'चक्षुष्मान्' है, क्या इतना भी तुझे नहीं दिखता कि यह भोगवृत्ति कितनी हेय है? तू तो शृण्वन् है, तुझे क्या मेरी बात सुनाई नहीं पड़ती, इसीलिए तू निश्चय कर कि 'देवयान से इतर मार्ग पर नहीं चलना'। तभी तू दीर्घजीवी, अदुर्बलेन्द्रिय सन्तान को जन्म देनेवाला होगा। ४. इस प्रकार देवयानमार्ग से चलनेवाला यह व्यक्ति उत्तम गतिवाला होने से 'संकसुक' है। (कस् to go, to move सम्=सम्यक्)। इस उत्तम मार्ग से चलता हुआ यह उस प्रभु तक पहुँचता है। (कस् to approach)। यदि वह शब्द 'संकुसुक' हो तो अर्थ होगा 'यह प्रभु का आलिंगन करनेवाला बनता है' (कुस to embrace)।

भावार्थ—हम जीवन के मार्ग को उत्तम करें, देवयान मार्ग से चलें। सन्तानों को प्रभु की सन्तानें समझते हुए उत्तम बनाने का प्रयत्न करें। हमारे असंयम से वे नष्ट न हों।

ऋषिः—**आदित्या देवा वा**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

आधिदैविक शान्ति

शं वातः शꣳहि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः।
शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाभि शूशुचन्॥८॥

गतमन्त्र के अनुसार जब मनुष्य देवयानमार्ग पर चलता है तब उसे किसी प्रकार की आधिदैविक आपत्ति प्राप्त नहीं होती। उसके लिए सब प्राकृतिक देव अनुकूल होते हैं। इस विषय को आठवें व नौवें मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि १. **वातः शम्**=वायु तेरे लिए शान्ति देनेवाली हो। २. **घृणिः**=(घृ=दीप्ति, A ray of light, sunshine, the sun) सूर्यकिरणें, धूप तथा स्वयं सूर्य **ते**=तेरे लिए **हि**=निश्चयपूर्वक **शम्**=शान्ति देनेवाला हो। ३. **घृणिः**=(A wave, water) जलतरंगें तथा जल तेरे लिए शान्तिदायक हो। ४. **इष्टकाः**=यज्ञवेदी में चयन की गई ईंटें अथवा दिन तथा रात्रि (अहोरात्राणि वा इष्टकाः —श० ९।१।२।१९) **ते**=

तेरे लिए **शं भवन्तु**=शान्ति देनेवाले हों। ५. **ते**=तेरे लिए **पार्थिवासः अग्नयः**=ये पृथिवीलोक की अग्नियाँ **शम् भवन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। यहाँ 'अग्नयः' यह बहुवचन पृथिवी के ग्यारह देवों का ध्यान करके रखा गया है। अग्नि इनका मुखिया है, अतः सभी को 'अग्नि' कह दिया है। ६. ये सबके सब **त्वा**=तुझे **मा**=मत **अभिशूशुचन्**=शोकयुक्त करनेवाले हों।

भावार्थ—हम सातवें मन्त्र के अनुसार मन को मार लेने-(पूर्णरूप से काबू कर लेने)-वाले मृत्यु बनेंगे और देवयानमार्ग को अपनाएँगे तो सब देव हमारे लिए शान्तिकर होंगे।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

दिशाओं की सामर्थ्यप्रदता

कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः।
अन्तरिक्षꣳशिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वाः॥९॥

१. **ते**=तेरे लिए **दिशः**=पूर्वादि दिशाएँ **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्य देनेवाली हों (कृपू सामर्थ्ये) २. **तुभ्यम्**=तेरे लिए **आपः**=जल **शिवतमाः**=अत्यन्त कल्याणकर हों। ३. **तुभ्यम्**=तेरे लिए **सिन्धवः**=नदियाँ व समुद्र **शिवतमाः भवन्तु**=कल्याणकर हों। ४. **अन्तरिक्षम्**=द्यावापृथिवी का मध्यवर्ती सम्पूर्ण लोक **तुभ्यम्**=तेरे लिए **शिवम्**=कल्याणकर हो। ५. और अन्त में **ते**=तेरे लिए **सर्वाः दिशः**=ईशानादि सब विदिशाएँ **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्य देनेवाली हों। इस प्रकार देवयानमार्ग पर चलनेवाले देवत्व का आदान करते हुए 'आदित्य' कहलाते हैं। ये धीमे-धीमे 'देव' ही बन जाते हैं। अथवा देवमाता 'अदिति' है, इसके पुत्र बनने से ये 'आदित्यदेव' कहलाने लगते हैं। इनके लिए सब दिशा-विदिशाएँ, जल, समुद्र और अन्तरिक्ष शान्ति देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम धर्माचरण करेंगे तो आधिदैविक आपत्तियों से बचे रहेंगे।

ऋषिः—**सुचीकः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अश्मन्वती नदी का सन्तरण

अश्मन्वती रीयते सꣳरभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीमोऽशिवा येऽअसञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥१०॥

१. यह संसार एक नदी के समान है, जिसमें नानाविध प्रलोभन नुकीले पत्थरों के समान है। यह **अश्मन्वती**=प्रलोभनमय पाषाणोंवाली संसार-नदी **रीयते**=तीव्र गति से चल रही है। इसको हमें पार करना है, इस संसार-नदी में डूबना नहीं है। प्रभु कहते हैं कि २. **संरभध्वम्**=सम्यक् क्रिया को प्रारम्भ करो। आलसियों की भाँति पड़े न रहो। ३. **उत्तिष्ठत**=उठ खड़े होओ। आलस्य से ऊपर उठकर प्रयत्न करो और ५. **सखायः**=सबके साथ मित्रता के भाव से वर्त्तते हुए **प्रतरत**=इस नदी को तैर जाओ। अकेले व्यक्ति के लिए इस नदी को तैरना कठिन है। कदम-कदम पर विषयों के नुकीले पत्थर शरीर को छलनी कर देनेवाले हैं, ज़रा फिसले कि गये। २. इस नदी को तैर जाने के लिए आवश्यक है कि **अत्र**=यहाँ ही **जहीमः**=हम उन वस्तुओं को छोड़ देते हैं **ये**=जो **अशिवाः**=अमङ्गलकारी **असन्**=हैं। बोझ को लादे तैरना सम्भव नहीं होता। बोझ उन्हीं वस्तुओं का हुआ करता है जो हमारी अङ्गभूत नहीं हैं। जो भी वस्तुएँ हमारा अङ्ग बन जाती हैं उनका भार नहीं हुआ करता। इस सिद्धान्त के अनुसार 'ज्ञान, मानस पवित्रता व प्राणशक्ति' हमारे अङ्गभूत होने से उपादेय हैं और बाह्य सम्पत्ति बाह्य होने से भारभूत है। उसका संग्रह तैरने में विघातक

होता है। उसका बोझ उतारना ही ठीक है, अतः **वयम्**=हम **शिवान्**=कल्याणकर **वजान्**=वाजों को, शक्तियों तथा धनों को **उत्तरेम**=इस नदी को तैर कर प्राप्त होंगे। अशिव को छोड़ेंगे तो शिव को प्राप्त करेंगे ही। इस किनारे को छोड़कर उस किनारे को छूनेवाला यह **'सुचीक'**=उत्तम स्पर्श करनेवाला कहलाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम उत्तम कार्यों को प्रारम्भ करें, आलस्य छोड़ उठ खड़े हों, मित्रता की भावना को अपनाकर इस अश्मन्वती नदी को तैर जाएँ। अशिव को छोड़ शिव को प्राप्त करें।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अपामार्ग

अपाघमप किल्बिषमप कृत्यामपो रपः। अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्यꣳ सुव॥११॥

१. (अप=away, दूर तथा मार्ग (मृजू शुद्धौ) शोधन करनेवाला) **अपामार्ग**=हमसे पापों को दूर करके हमें शुद्ध करनेवाले हे प्रभो! **त्वम्**=आप **अघम्**=हिंसादि पापों को **अस्मत्**=हमसे **अपसुव**=दूर कीजिए। जब हम प्रभु का स्मरण करते हैं तब सभी प्राणियों के प्रभु-सन्तान होने की कल्पना से विश्वबन्धुत्व की भावना जागती है और हम हिंसा की वृत्ति से ऊपर उठते हैं। ३. हे प्रभो! **किल्बिषम्**=उस मन की मलिनता को जो हमें विषय-वासनाओं में ही क्रीड़ा कराती रहती है **अप** =हमसे दूर कीजिए। प्रभु-स्मरण से मन से वासना भाग ही जाती है और मन विषयप्रवण नहीं रहता। ३. **कृत्याम्**=औरों को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से जो जादू-टोना आदि दुष्ट क्रियाएँ हैं, उन्हें **अप**=हमसे दूर कीजिए। प्रभु-भावन हमारे हृदयों को पवित्र करता है, अतः हृदय में ईर्ष्या-द्वेष नहीं रहते और उनकी परिणामभूत कृत्याएँ भी समाप्त हो जाती हैं। ४. **उ**=और **रपः**=जो भाषण-सम्बन्धी दोष हैं, उन कटु भाषणादि को **अप**=हमसे दूर कीजिए। प्रभु-स्मरण से भ्रातृभाव का उदय होता है, कटुभाषण का प्रसङ्ग ही नहीं रहता। ५. हे अपामार्ग प्रभो! **अस्मत्**=हमसे **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों की कारणभूत सब बुराइयों को **अपसुव**=दूर कीजिए। सब पापों को दूर करके जीवन में सुख का निर्माण करनेवाला **शुनःशेप**=(शुनम्=सुखम्, शेप=to make) प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह 'अपामार्ग' ओषधि के प्रयोग को समझकर जिस प्रकार शरीर को नीरोग बनाता है, उसी प्रकार उस **अपामार्ग**=प्रभु के स्मरण से यह अपने मन को निर्दोष बनाता है।

भावार्थ—प्रभु अपामार्ग हैं, वे हमारे अघों, किल्बिषों, कृत्याओं और रपस् को हमसे दूर करते हैं। संक्षेप में बुरे स्वप्नों की कारणभूत सब बातों को वे प्रभु हमसे दूर करते हैं।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सुमित्रिय आप् और ओषधियाँ

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥१२॥

छठे मन्त्र में उत्कृष्ट मार्ग पर चलने का उल्लेख था और परिणामतः आधिदैविक कष्टों के न होने का वर्णन आठवें व नववें मन्त्र में था। ग्यारहवें मन्त्र में पापों को दूर करने का उल्लेख करके इस बारहवें मन्त्र में कहते हैं कि **नः**=हमारे लिए, जिन हम लोगों ने 'अघ, किल्बिष, कृत्या व रपस्' को दूर करने का निश्चय किया है, **आपः**=जल और

ओषधयः=ओषधियाँ **सुमित्रयाः सन्तु**=उत्तम स्नेह करनेवाली हों (ञिमिदा स्नेहने), अर्थात् हमारे लिए हितकारी हों। ये जल व ओषधियाँ हमारे रोगों को दूर करके मृत्यु से बचानेवाली हों (प्रमीतेः त्रायते) **तस्मै**=उस व्यक्ति के लिए ये जल व ओषधियाँ **दुर्मित्रियाः सन्तु**=दुर्मित्रिय हों **यः**=जो **अस्मान्**=हम सबसे **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **यं च**=और परिणामतः जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=प्रीति के योग्य नहीं समझते। यदि कोई व्यक्ति ऐसा है जो सारे समाज से सदा वैर-विरोध करता रहता है, समझाने से भी समझता नहीं तो वह फिर अवाञ्छनीय हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिए ये जल व ओषधियाँ हितकर न हों। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह बात है भी ठीक। जो व्यक्ति सदा ईर्ष्या-द्वेष व लड़ाई-झगड़े में चलता है उसकी इस मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं जो इन जलों व ओषधियों का परिणाम हितकर नहीं होने देते।

जो व्यक्ति सब स्थानों से अच्छाई को ही लेने का अभ्यास करते हैं और इस प्रकार देववृत्तिवाले होते हैं वे 'आदित्यदेव' ही प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि हैं, इनका मन ईर्ष्या-द्वेषादि से सदा ऊपर रहता है। इस मनःप्रसाद के कारण इनके खान-पान का इनके जीवन में उत्तम प्रभाव होता है। सर्पवृत्ति के कुटिल व औरों का घात-पात करनेवाले लोग दुग्धामृत भी पीएँ तो उसका परिपाक विष के रूप में होता है।

भावार्थ—पापों को दूर करके हम देवों के प्रिय हों, जलौषधि हमारे लिए हितकर हों।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**कृषीवलाः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'वह अनड्वान्'

अ॒न॒ड्वाह॑मन्वार॑भामहे॒ सौर॑भेयꣳस्व॒स्तये॑।
स नऽइन्द्रऽइव दे॒वेभ्यो॒ वह्निः॒ स॒न्तार॑णो भव॥१३॥

दसवें मन्त्र में 'अश्मन्वती नदी' के तैरने का उल्लेख था। उसी सन्तरण के लिए प्रभु से शक्तियोग का निश्चय करते हैं कि **अनड्वाहम्**=इस संसार-शकट (अन=गाड़ी) के वहन (वाह) करनेवाले प्रभु को **आरभामहे**=अपना आधार (to rely on) बनाते हैं, उनपर अपनी जीवन-यात्रा की सफलता के लिए पूर्ण आस्था (to reach or attain to) रखते हैं। उस प्रभु को प्राप्त करने के लिए (to seize, to grasp) पूर्ण प्रयत्न करते हैं। उस प्रभु को समझने के लिए कोई कमी उठा नहीं रखते। वे प्रभु **सौरभेयम्**=सुरभियों में उत्तम हैं, हमारे जीवन को सुगन्धित कर देते हैं। प्रभु का आश्रय करने पर हमारे जीवन पवित्र हो जाते हैं, उनमें पापमय कर्मों की दुर्गन्ध नहीं रहती। ऐसा हम **स्वस्तये**=उत्तम जीवन की स्थिति के लिए करते हैं (सु+अस्)। वे प्रभु 'वह्नि' हैं, हमारी जीवन-यात्रा को पूरा करनेवाले हैं। हमें लक्ष्यस्थान पर ले-जाते हैं (वह्नि to carry)। हे प्रभो! आप हमारे लिए **सन्तारणः**=इस संसार-नदी को तैरने के साधन **भव**=होओ, **इव**=उसी प्रकार जैसेकि **इन्द्रः**=देवराट् **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए सन्तरण हुआ करता है। इस शरीर में 'इन्द्र' आत्मा है और सब इन्द्रियाँ 'देव' हैं। जब इन्द्र इन देवों पर आक्रमण करनेवाले असुरों का संहार करता है तब देव, अर्थात् इन्द्रियाँ सब मलिनताओं को पार कर जाती हैं। मलिनताओं से ऊपर उठकर देव चमक उठते हैं। इसी प्रकार प्रभु का आश्रय करने पर जीव चमक उठता है। प्रभु का आश्रय करनेवाले ये लोग अच्छाइयों का ग्रहण करने के कारण 'आदित्य' होते हैं, दिव्य गुणोंवाले होने से 'देव' होते हैं। वे देव उस प्रभु को ही **'अनड्वान्'**=संसार-शकट का सञ्चालक समझते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को ही जीवन-सञ्चालक जानें। वे हमारे जीवन को पवित्र बनाएँगे, वे हमें इस संसार-नदी को तैरने के योग्य करेंगे।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

उत्तम ज्योति को प्राप्त करना

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥१४॥

१. गत मन्त्र के 'आदित्यदेव' निश्चय करते हैं कि **वयम्**=हम **उत्**=इस उत्कृष्ट व सुन्दर, अत्यन्त आकर्षक **तमसः**=पूर्ण अन्धकारमय प्रकृति से **परि**=परे **उत्तरम्**=प्रकृति के साथ तुलना में अधिक उत्कृष्ट, क्योंकि प्रकृति तो जड़ है और यह जीवात्मा चेतन है, **स्वः**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त आत्मस्वरूप को **पश्यन्तः**=देखते हुए **देवत्रा देवम्**=देवों के भी देव, वस्तुतः सब देवों के प्रकाशक **उत्तमम्**=सर्वोत्कृष्ट **ज्योतिः**=प्रकाशरूप उस **सूर्यम्**=सबके प्रेरक प्रभु को (सुवति कर्मणि) **अगन्म**=प्राप्त होते हैं। २. प्रस्तुत मन्त्र में प्रकृति, जीव व परमात्मा का उल्लेख 'उत्, उत्तर व उत्तम' शब्द से हुआ है। प्रकृति **उत्**=उत्कृष्ट है। जीव की उन्नति के लिए प्रत्येक साधन उसमें निहित है। ३. हाँ, जीव उससे अधिक उत्कृष्ट है चूँकि प्रकृति जीव के हित के लिए ही है और प्रकृति जहाँ पूर्ण जड़ है वहाँ जीव चेतन है, अतः यह 'उत्तर' है। ४. परमात्मा जीव से भी उत्तम है चूँकि जीव का ज्ञान जहाँ अल्प है प्रभु का ज्ञान पूर्ण है। ज्ञान की चरमसीमा ही तो प्रभु हैं **'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'** (योगदर्शन)=जहाँ ज्ञान के तारतम्य की विश्रान्ति होती है वही तो प्रभु हैं। ये देवों के भी देव हैं, सूर्यादि के भी ये ही प्रकाशक हैं। वे गुरुओं के भी गुरु हैं **'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**। ये प्रभु सारे संसार के सञ्चालक तो हैं ही, हृदयस्थरूपेण जीवों को भी ये कर्म की प्रेरणा दे रहे हैं, अतः सूर्य हैं।

भावार्थ—हम 'उत्, उत्तर व उत्तम' शब्दों से व्यक्त होनेवाले प्रकृति, जीव व परमात्मा के रूप को समझें।

ऋषिः—**सङ्कसुकः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रेरणा-पञ्चक—पाँच प्रेरणाएँ

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरोऽअर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥१५॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर थी कि हम उत्तम ज्योति परमात्मा को प्राप्त करते हैं, जो प्रभु 'सूर्य' हैं, हमें कर्मों में प्रेरित कर रहे हैं। इस प्रेरणा का स्वरूप प्रस्तुत मन्त्र में दिया गया है। १. **जीवेभ्यः**=जीवों के लिए **इमम् परिधिम्**=इस परिधि को, मर्यादा को **दधामि**=धारण करता हूँ। जीव को सर्वप्रथम तो यह चाहिए कि वह मर्यादा में चले। उसका प्रत्येक कार्य सीमा में हो। २. दूसरी प्रेरणा प्रभु की यह है कि **एषाम्**=इन जीवों के **एतम् अर्थम्**=इस धन को, उपार्जित सम्पत्ति को **अपरः**=दूसरा व्यक्ति **मा नु गात्**=निश्चय से न प्राप्त करे, अर्थात् सब कोई अपने पुरुषार्थ से ही धनार्जन का विचार करे। ३. प्रेरणा का तीसरा अंश यह है कि जीव **शरदः शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **जीवन्तु**=जीएँ। सौ वर्ष तक जीने को भी वह अपना धर्म समझें। दीर्घजीवन के दृष्टिकोण से उनका आहर-विहार हो। ४. इस जीवन में प्रजाएँ **पुरूचीः** (पुरु अञ्च्)=पालन व पूरणात्मक गतिवाले होते हुए प्रभु की पूजा करनेवाले हों (पृ पालनपूरणयोः, अञ्चु गतिपूजनयोः) प्रभु-पूजा वस्तुतः यही है

कि हमारे कर्म पालन व पूरण करनेवाले हों, विनाश व ह्रास का कारण न बनें। ५. ये जीव **पर्वतेन** (पर्व पूरणे)=इस पूरण के हेतु से, कमियों को न आने देने की लिए, **अन्तः**=अपने हृदयों में **मृत्युम्**=उस सर्वत्र यन्ता यमरूप प्रभु को **दधताम्**= धारण करें। रुद्ररूप में उस प्रभु का स्मरण हमारे जीवनों में न्यूनताओं को नहीं आने देता। यह 'मृत्यु' का स्मरण हमारी जीवन की गाड़ी को पथभ्रष्ट नहीं होने देता, हम प्रकृति में नहीं फँसते। बस, इस प्रकृति में न फँसने के कारण ही हम उत्तम गतिवाले होते हैं (सम्=उत्तम, कसु गतौ) अन्त में हम प्रभु को प्राप्त करते हैं (कस् to approach), इसीलिए हमारा नाम 'सङ्कसुक' हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणा इस रूप में है कि १. मर्यादा में चलो, २. पुरुषार्थ से कमाओ, ३. सौ वर्ष अवश्य जीना है, ४. तुम्हारी प्रत्येक क्रिया पालन व पूरणवाली हो, ५. पूरण के दृष्टिकोण से ही प्रभु के 'रुद्र' रूप को हृदयस्थ करना, मृत्यु को नहीं भूलना।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

'आदित्यदेवों' की प्रार्थना

अग्नऽआयूꣳषि पवसऽआ सुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥१६॥

गत मन्त्र का अन्तिम वाक्य था कि 'अपनी उत्तमता व दिव्यता के पूरण के हेतु से रुद्र प्रभु को हृदयों में धारण करो।' वे हृदयस्थ प्रभु सुननेवाले को जो प्रेरणा देते हैं उसका वर्णन गत मन्त्र में विस्तार से है। प्रस्तुत मन्त्र में दिव्यता का आदाता 'आदित्यदेव' जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि १. हे **अग्ने**=हमारी सब बुराइयों को भस्म करनेवाले अग्निदेव! आप ही हमारे **आयूंषि**=जीवनों को **पवसे**=पवित्र बनाते हैं। काम-क्रोधादि आसुर वृत्तियों से युद्ध में जीतने का सामर्थ्य हममें नहीं है। यह तो आपकी शक्ति से ही होगा। २. **नः**=हमें **इषम्**=प्रेरणा को **ऊर्जम् च**=और उस प्रेरणा को क्रियान्वित करने के लिए प्राणशक्ति को **आसुव**=प्राप्त कराइए। जीवनों को पवित्र करने के लिए यही मार्ग है कि हम प्रेरणा को सुनें और उस प्रेरणा को क्रियान्वित करने की शक्ति हममें हो। ३. हे प्रभो! **दुच्छुनाम्** (शुन गतौ)=सब दुर्गमनों, दुरितों को **आरे**=हमसे दूर **बाधस्व**=रोक दीजिए। हे प्रभो! यह सब आपने ही करना है, हमारी शक्ति से यह साध्य नहीं।

भावार्थ—हमारे जीवन पवित्र हों, हमें प्रेरणा व शक्ति प्राप्त हो, दुरित हमसे दूर रहें।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सुन्दर प्रेरणाएँ

आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभि रक्षतादिमान्त्स्वाहा॥१७॥

गतमन्त्र में अच्छाई का आदान करने की वृत्तिवाले 'आदित्यदेव' ने प्रभु से कहा था कि 'मुझसे दुरित को दूर रोक दीजिए'। इन शब्दों में वस्तुतः उसने यही निश्चय किया था कि मैं इन सब बुराइयों का विशेषरूप से समूल उत्खात (जड़ से उखाड़ देनेवाला) कर देनेवाला बनूँगा। इसी से उसका नाम **'वैखानस'**='विशिष्ट खनन करनेवाला' हो गया है, यही मन्त्र का ऋषि है। इससे प्रभु कहते हैं कि १. हे **अग्ने!**=बुराइयों को भस्म करनेवाले जीव! **आयुष्मान्**=तू उत्तम जीवनवाला बन, उत्तम जीवन वही है जो मलों से रहित है।

शरीर के मल 'रोग' हैं, मन के मल 'राग-द्वेष' हैं, बुद्धि का मल 'कुण्ठा' (dullness) है, अतः तू रोगों, द्वेषों व कुण्ठा से दूर होकर अपने जीवन की उत्तमता को सिद्ध कर। २. **हविषा**=(हु दान+अदन) दानपूर्वक अदन करता हुआ तू **वृधानः**=वृद्धि के स्वभाववाला बन। दानपूर्वक अदन ही हवन व यज्ञ है। यही तेरे फूलने-फलने का मौलिक रहस्य है। ३. **घृतप्रतीकः**=ज्ञान की दीप्ति से दीप्त मुखवाला तू हो। (घृ दीप्तौ) तेरे चेहरे पर अन्तःस्थ ब्रह्मज्ञान की आभा दिखे, तू ब्रह्मर्चस्वी लगे। ४. **घृतयोनिः**=(घृ क्षरण) मलों के उत्तम क्षरणवाले घर-(योनि)-वाला **एधि**=तू हो। तेरे इस शरीररूप गृह में मलों का सञ्चय न हो जाए। मलों का क्षरण इसमें से ठीकरूप में होता रहे। ५. 'घृतप्रतीक' व 'घृतयोनि'=ज्ञानदीप्त मुखवाला तथा स्वस्थ शरीरवाला बनने के लिए तू **मधु**=अत्यन्त मधुर व ओषधियों के सारभूतम् **चारु**=सुन्दर **गव्यम् घृतम्**=गोदुग्ध से आज ही निकाले गये घृत को **पीत्वा**=पीकर **इमान्**=इन दिव्य गुणों को (आयुष्मत्ता, यज्ञ द्वारा वृद्धि, ज्ञानदीप्ति व शारीरिक स्वास्थ्य को) **अभिरक्षतात्**=अपने में उसी प्रकार सुरक्षित करनेवाला बन **इव**=जैसे **पिता**=पिता **पुत्रम्**=पुत्र को। जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है, तू इन दिव्य गुणों की अपने में रक्षा कर।

भावार्थ—मलों को भस्म करके हम उत्तम जीवनवाले बनें, यज्ञ के द्वारा वृद्धि करके ज्ञान दीप्त हों, शरीर स्वस्थ हो। गोघृत का प्रयोग करनेवाला तू बन। दिव्य गुणों की अपने में तू रक्षा कर।

ऋषिः—**भरद्वाजः शिरिम्बिठः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अधर्षण—अजेयता

परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत। देवेष्वक्रत श्रवः कऽइमाँ२॥ऽआ दधर्षति॥१८॥

पिछले मन्त्र का वैखानस=काम-क्रोधादि को उखाड़कर शक्तिशाली बना है, अतः 'भरद्वाज' है। इसका (हृदयान्तरिक्ष) शिरि=वासनाओं को शीर्ण करनेवाला हुआ है, अतः यह 'शिरिम्बिठ भरद्वाज' नामवाला ऋषि है। १. **इमे**=ये ऋषि वे हैं जिन्होंने कि **गाम्**=वेदवाणी का **परि अनेषत**=परिणय किया है, वेदवाणी के साथ विवाह किया है। २. **अग्निम्**=अग्नि को **परि अहृषत**=सब ओर से धारण किया है (हृ=to have, to possess), अर्थात् अग्निहोत्र की अग्नि को इन्होंने अपने घर में बुझने नहीं दिया है। इन्होंने ज्ञान की वाणियों के सतत अध्ययन से जहाँ अपने मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण किया, वहाँ इनके हाथ सदा अग्निहोत्र आदि यज्ञों में लगे रहे हैं ३. इस प्रकार इन्होंने **देवेषु**=देवों में **श्रवः**=यश को **अक्रत**=सम्पादित किया है, अर्थात् इनके हृदय दिव्य गुणों से परिपूर्ण हुए हैं। **इमान्**=इनको **कः**=कौन **आदधर्षति**=धर्षित कर सकता है (धृष्=Dare to attack, challenge, defy)। इन व्यक्तियों को कोई वासना आक्रान्त नहीं कर पाती। दूसरे शब्दों में, वासनाओं से अपराजित होने का प्रकार यही है कि (क) मनुष्य अपने मस्तिष्क को सतत अध्ययन में व्याप्त रक्खे। (ख) उसके हाथ यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगे रहें और (ग) वह अपने हृदय को सदा दिव्य गुणों से परिपूर्ण करने के लिए यत्नशील हो। वस्तुतः इन्हीं के कारण उसका चारों ओर यश हो। इन लोगों के 'ज्ञान' ने काम पर विजय पाई है, 'यज्ञ' ने लोभ पर (यज्ञ=दान), तथा 'दिव्यता' ने क्रोध पर। काम की चिता पर ज्ञान इनके जीवन में दीप्त हुआ है, लोभ की चिता पर यज्ञों का मन्दिर बना है, और क्रोध को भस्म कर ये दिव्य बने हैं।

भावार्थ—हम अध्ययन-व्यापृत, यज्ञशील व दिव्यता के धारण से यशस्वी बनकर वासनाओं से अपराजित बन जाएँ।

ऋषिः—**दमनः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

चार बातें

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्यं गच्छतु रिप्रवाहः।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥१९॥

१. **क्रव्यादम्**=कच्चे मांस (क्रव्य) को खानेवाले (अद) **अग्निम्**=अग्नि को **दूरम्**=दूर **प्रहिणोमि**=भेजता हूँ, अर्थात् हमारे घरों में कोई भी अपरिपक्व अवस्थावाला व्यक्ति मृत्यु का ग्रास नहीं होता। 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते'='सस्य की भाँति मनुष्य परिपक्व होता है' ये उपनिषद् के शब्द परिपक्व की भावना को व्यक्त कर रहे हैं। 'इसके बाल पक गये हैं' यह हिन्दी का प्रयोग भी पकने का अर्थ स्पष्ट कर देते हैं, अर्थात् हमारे घरों में पूर्ण वृद्धावस्था से पूर्व कोई भी व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। 'जरदष्टिं त्वा कृणोभि'=प्रभु ने मनुष्य को पूर्ण आयुष्य प्राप्त करनेवाला बनाया है। २. यह **रिप्रवाहः**=मलों व दोषों (रिप्र) को धारण करनेवाला (वह) **यमराज्यम्**=यम के राज्य को **गच्छतु**=जाए। **'आचार्यो मृत्युर्वरुणः'**=इस अथर्व-वाक्य के अनुसार आचार्य ही मृत्यु व यम है। यम=आचार्य उसे बड़े नियम में रक्खेगा। बालकों में 'स्वार्थ, जिद' इत्यादि की भावना बड़ी प्रबल होती है, शिक्षणालयों में उन्हें 'औरों के साथ मिलकर चलना', 'अपने को ही सबसे महत्त्वपूर्ण न समझना' इत्यादि भावनाओं की शिक्षा मिलती है। यहीं इन गुणों का विकास होता है और ये शिक्षित व सभ्य बनते हैं। ३. जहाँ हम चञ्चल बच्चों को आर्चायकुल में भेजते हैं, वहाँ यह भी चाहते हैं कि **अयम्**=यह **इतरः**=उस चञ्चल बच्चे से भिन्न, **देवेभ्यः**=आचार्यकुल में विद्वान् उपाध्यायों से **जातवेदाः**=उत्पन्न हुए-हुए ज्ञानवाला **इह एव**=यहाँ हमारे मध्य में ही, अर्थात् आचार्यकुल से शिक्षित हो समावृत होकर घरों में आये। ४. वह **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला ब्रह्मचारी **हव्यम्**=ग्रहण करने योग्य विज्ञान को **वहतु**=औरों तक ले-जानेवाला हो। यह लोगों में अपने प्राप्त किये हुए ज्ञान को फैलानेवाला हो।

भावार्थ—(क) हमारे घरों में कोई छोटी उम्र में न चला जाए, (ख) हमारा प्रत्येक बालक आर्चायकुल में शिक्षा प्राप्त करे (ग) विद्वान् उपाध्यायों से शिक्षित होकर वह यहाँ ही हो, अर्थात् घर का निर्माण करनेवाला हो, (घ) अपने जीवन के अन्तकाल में औरों में उस ज्ञान को फैलानेवाला बने।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**जातवेदाः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वपा (चरबी) पितरों के लिए

वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थ निहितान् पराके।
मेदसः कुल्याऽउप तान्त्स्रवन्तु सत्याऽएषामाशिषः सं नमन्ताꣳ स्वाहा॥२०॥

पिछले मन्त्र का 'दमन' एक सद्गृहस्थ बनता है। यह सद्गृहस्थ ही जीवन के अन्तकाल में आदित्य के समान ज्ञान के प्रकाश को फैलानेवाला देव=ज्ञान के प्रकाश से सभी को द्योतित करनेवाला होता है। इसके 'आदित्यदेव'='सूर्य के समान चमकनेवाला' बन सकने का रहस्य इस बात में है कि इसने आचार्यों की ख़ूब सेवा की है। मन्त्र में कहते हैं कि हे **जातवेदः**=ज्ञान को प्राप्त करनेवाले ब्रह्मचारिन्! तू **पितृभ्यः**=ज्ञान के दान द्वारा

रक्षा करनेवाले इन पितरों के लिए **वपाम्**=अपनी चरबी को दे डाल, उनकी सेवा में तेरी चरबी ढल जाए। **यत्र**=जहाँ कहीं भी **एनान्**=इनको **पराके**=विषयों से दूर देश में **निहितान्**=स्थित हुए हुओं को **वेत्थ**=तू जानता है वहाँ भी **तान् उप**=उनके समीप तेरी **मेदसः**=चरबी की **कुल्याः**=नहरें **स्रवन्तु**=बह पड़ें, अर्थात् तू विषयों से ऊपर उठे हुए विद्वान् आचार्यों की सेवा में अपने पसीने को बहानेवाला हो। पूर्ण परिश्रम से तू उनकी सेवा करनेवाला बन। इनकी सेवा में तेरी सारी चरबी इस प्रकार ढल जाए जैसेकि बर्फ पिघलकर नदी के रूप में बह चलती है। बर्फ जल के रूप में और तेरी चरबी पसीने के रूप में होकर आचार्य-चरणों में यह स्वेद-सरित्=पसीने की नदी बहने लगे और तब **एषाम्**=इस शुश्रूषा से प्रसन्न आचार्यों के **सत्याः आशिषः**=सच्चे आशीर्वचन **संनमन्ताम्**=तेरी ओर झुकें, तुझे प्राप्त हों। इन आशीर्वादों को प्राप्त करने के लिए तू **स्वाहा**=स्व का त्याग (हा) करनेवाला हो। स्वार्थ को छोड़कर, तन, मन व धन से आचार्यों की सेवा करनेवाला बनकर ही तो तू इन आशीर्वादों को प्राप्त कर सकेगा।

भावार्थ—विषयव्यावृत्त विद्वान् आचार्यों की सेवा में श्रम से हमारी चरबी ढल जाए और हम उनके सत्य आशीर्वादों के पात्र हों।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**पृथिवी**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**[क], **प्रजापत्यागायत्री**[ख]। स्वरः—**षड्जः**।

उत्तम घर

[क]स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथाः। [ख]अप नः शोशुचदघम्॥२१॥

'हमारा प्रारम्भिक जीवन 'विद्वान्, व्रती आचार्यों की सेवा में, उनके चरणों में बीते' यह गतमन्त्र का विषय था। यदि यही नियम व्यापकरूप धारण कर ले, सभी बालक आचार्य- चरणों में उत्तम शिक्षा प्राप्त करें तो यह पृथिवी सचमुच हमारे लिए पूर्ण सुखकर हो जाए। इसी मार्ग से चलनेवाला और परिणामतः मेधाबुद्धि की ओर चलनेवाला 'मेधातिथि' (अत्=निरन्तर चलना) कहता है कि १. **पृथिवि**=हे अत्यन्त विस्तारवाली भूमे! **नः**=हमारे लिए **स्योना**=सुख देनेवाली हो। वस्तुतः जिस राष्ट्र में, आचार्यकुलों में विद्यार्थियों का निर्माण होता है, उस राष्ट्र में उत्तम मनुष्यों का निवास होने से राष्ट्र फूला-फला व सुखमय होता है। २. हे पृथिवि! तू **अनृक्षरा**=मनुष्यों का नाश न करनेवाली हो (अ नृ क्षरा)। लोगों का परस्पर व्यवहार इतना सुन्दर हो कि लड़ाई-झगड़ों के कारण मनुष्यों में घात-पात न होते रहें। 'नृक्षर' काँटे को भी कहते हैं। तब 'अनृक्षरा' का अर्थ होगा 'कण्टकरहित'। निवासस्थान बननेवाली भूमि कण्टकरहित होनी चाहिए। ३. यह भूमि **निवेशनी**=हमें उत्तम निवेश देनेवाली हो, अर्थात् इसपर हमारे घर बड़ी सुन्दरता से बने हों। वे निवेशवाले (Spacious), खुली जगहवाले हों। ४. **सप्रथाः**=हे विस्तारवाली भूमे! तू **नः**=हमें **शर्म**=कल्याण **यच्छ**=प्राप्त करा। यहाँ पृथिवी की विशालता का ध्यान कराने का उद्देश्य यह है कि लोग मकानों को खुला बनाएँ, गलियाँ, बाजार तंग न हों। साथ ही कई मंजिलों के मकान बनाकर सूर्यकिरणों व वायु का सहज प्रवेश न होने देना भी स्वास्थ्य के लिए हानिकर ही है। पृथिवी बड़ी विशाल है, अतः मकान आदि को खुला ही बनाना ठीक है। ५. ऐसी स्थिति होने पर **अघम्**=पाप व उसकी परिणामभूत पीड़ा **नः**=हमसे **अप**=दूर होकर **शोशुचत्**=शोक करनेवाली हो, अर्थात् उसे हमारे राष्ट्र में कहीं रहने का स्थान प्राप्त न हो।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में लोग मेधातिथि=समझदार Sensible होते हैं, वे राष्ट्र को बड़ा सुखद बनाते हैं, उनमें परस्पर घात-पात नहीं होते रहते, उनके मकान विशाल होते हैं और खुले स्थानों में बने होते हैं। इन घरों में पाप व पीड़ा का प्रवेश नहीं होता।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**पृथिवी**। छन्दः—**स्वराड्गायत्री** स्वरः—**षड्जः**।

स्वर्ग

अस्मात्त्वमधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः। असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा॥२२॥

इस अध्याय की समाप्ति पर कहते हैं कि **त्वम्**=तू **अस्मात्**=इस प्रभु से **अधिजातः**=प्रादुर्भूत **असि**=हुआ है। प्रभु ने तुझे यह शरीर दिया है। उसमें उन्नति के लिए विविध इन्द्रियाँ प्रभु ने तुझे प्राप्त कराई हैं। **पुनः**=अब फिर **अयम्**=यह प्रभु **तत्**=तुझसे **जायताम्**=प्रादुर्भूत किया जाए। प्रभु से तेरा प्रादुर्भाव हुआ है, तुझसे प्रभु का प्रादुर्भाव हो। जो व्यक्ति प्रभु का अपने हृदय में प्रादुर्भाव करने का प्रयत्न करता है उसकी वृत्ति सुन्दर बनती है इसमें कोई शक नहीं है। प्रभु की अनुभूति हुई और मानव-जीवन की सब मलिनता समाप्त हुई। **असौ**=यह प्रभु-अनुभव लेनेवाला व्यक्ति **स्वर्गाय लोकाय**=स्वर्गलोक के लिए समर्थ होता है। यह अपने ऐहिक निवास को सुखमय बना पाता है। इसी उद्देश्य से यह **'स्वाहा'**=(स्व+हा) स्वार्थ का त्याग करता है। जितना-जितना स्वार्थ का त्याग करता जाता है उतना-उतना यह स्वर्गमय जीवनवाला होता जाता है। जो पुरुष परमात्मा के प्रादुर्भाव का प्रयत्न करते हैं और स्वार्थ-त्यागवाले होते हैं उनका जीवन सुखमय हो जाता है। ये स्वर्ग में निवास करनेवाले 'आदित्यदेव' कहलाते हैं, ये उत्तमता व दिव्यता का आदान करते हुए सचमुच स्वर्ग-सुख के अधिकारी होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में प्रभु की भावना को जागरित करें, स्वार्थ-त्यागवाले हों, जिससे स्वर्ग का निर्माण कर सकें।

इति पञ्चत्रिंशोऽध्यायः॥